

सच को खोजना सच को नकारना है, क्योंकि सच के पीछे दौड़ा नहीं जा सकता : वही आपके पास आता है। आ वह तभी सकता है जब मन खामोश हो—खामोश किया गया नहीं, स्वतः मौन, शांत।

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

दिसम्बर २०११

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

वार्षिक शुल्क	: रु.	१००.००
दो वर्ष	: रु.	१७५.००
पांच वर्ष के लिए	: रु.	४००.००
आजीवन	: रु.	१०००.००

संपादक : विजय छाबड़ा

इस अंक में :

	पृष्ठ संख्या
समस्या का अस्तित्व इसलिये है क्योंकि हमें अपने बारे में कुछ पता ही नहीं है	३
आप जो हैं उसे समझना सदाचार की शुरुआत है	१५
अहं की समाप्ति ही ध्यान है	२७
द्विभाषी उद्धरण	बीच के पन्ने

खंड दो

सूचना

३१

अनुवाद : बलराम, भूपेश

समस्या का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि हमें अपने बारे में कुछ पता ही नहीं है

मुझे लगता है कि किसी भी समस्या को समझने के लिए किसी गढ़े-गढ़ाये जवाब की ज़रूरत नहीं है, न ही उसके हल के लिए हाथ-पांव मारने की ज़रूरत है, बल्कि ज़रूरत है समस्या के साथ सीधे-सीधे जुड़ने की, जिसका मतलब है जवाब की किसी उम्मीद के बगैर समस्या के करीब जाना, अगर ऐसा कहा जा सके तो। तब आप समस्या से सीधे जुड़ते हैं, खुद आप ही समस्या होते हैं, वह अब आप से अलग नहीं होती और मेरे ख्याल से यही बात हमें सबसे पहले समझ लेनी चाहिए कि अस्तित्व की समस्या, अपनी सभी पेचीदगियों समेत हमसे अलग नहीं है।

हम खुद ही समस्या हैं और जब तक हम यह समझते हैं कि समस्या तो कहीं और है, हमसे परे, हमसे अलग, तब तक हमारी कोशिशें हर हाल में नाकाम ही रहेंगी। जबकि अगर हम यह देख लेते हैं कि समस्या तो खुद हमारा ही हिस्सा है, हमारी ही है, हमसे जुदा नहीं है शायद तभी हम गहराई से उसे समझ पायें। यानी कि मूल रूप से, क्या ऐसा नहीं है कि समस्या का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि हमें अपने बारे में कुछ पता नहीं है, कोई स्व-ज्ञान नहीं है? अगर मैं खुद को नहीं समझता, अपने आप की सारी पेचीदगियों को, तो मेरे पास सोच-विचार का कोई आधार ही नहीं होता।

बेशक स्व किसी एक विशेष स्तर पर नहीं है। “मैं” हर स्तर पर है, मैं भले ही इसे किसी एक स्तर पर रखूं। जब तक मुझे अपनी ही कोई समझ नहीं, मैं खुद को ही पूर्णतया नहीं समझता—चेतन और साथ ही साथ अवचेतन में भी, सतही तौर पर और साथ ही साथ गहराई में भी—साफ है कि समस्या तक

पहुंचने का मेरे पास कोई रास्ता ही नहीं होगा, समस्या भले ही आर्थिक हो या समाजिक, मानसिक हो या कोई और।

स्व-बोध ही समस्या को समझने की शुरुआत है। विश्वास, धारणाओं और ज्ञान का तो खुद को जाने बिना कुछ मतलब ही नहीं। स्वयं को जाने बिना वे भ्रमित ही कर सकते हैं, छल सकते हैं, हर तरह की जटिलताओं और मूर्खताओं की तरफ ले जा सकते हैं, बड़ी ही आसानी से हम उनमें पलायन कर सकते हैं— और ज्यादातर लोग ऐसा ही करते हैं। इसीलिए तो हम तरह-तरह की सभा-सोसाइटियों में शामिल होते हैं, हर तरह के समूहों में, गुप्त सभाओं में, कुछ खास तरह की संस्थाओं में।

कुछ ख़ास होना, विशिष्ट होना, क्या यह मूर्खता की निशानी नहीं है? जितना कोई बेवकूफ होता है उतना ही वह विशेष होता है, धार्मिक रूप से या सामाजिक तौर पर; और हर तरह की विशिष्टता या अलगाव अपनी ही समस्याएं ले कर आता है।

अतः मेरे विचार से ये जो अनेकों समस्याएं हमारे सामने खड़ी हैं, भले ही वे कितनी ही महीन हों या सतही, उन्हें समझने में हमारी कठिनाई की जड़ स्वयं को न जानने में ही है। हमीं हैं जो समस्या खड़ी करते हैं, हम जो कि माहौल का हिस्सा हैं, और साथ ही कुछ और भी, जिसे हम तभी जान पाते हैं जब हम खुद को जान जायें। सिर्फ यह दावा करके कि हम तो कुछ और ही हैं, कोई दैवी, कोई रूहानी शै या ऐसा कुछ जो अमर है, हमारे अंदर कुछ आत्म-तत्त्व जैसा, यह सब कुछ मेरे ख्याल में खुला वहम है, भ्रम है, क्योंकि यह उस चीज़ को शब्दों में बांधने की कोशिश है जिसे हम जानते ही नहीं। हो सकता है कि आपको कुछ एहसास हुआ हो, कुछ महसूस हुआ है, कोई सनसनी सी, लेकिन वह असली नहीं है। जो भी तथ्य है सामने आना चाहिए, अनुभव में आना चाहिए।

लेकिन किसी भी चीज को गहराई से महसूस करने के लिए, मूलभूत रूप से अनुभव करने के लिए, किसी भी प्रकार का विश्वास नहीं चाहिए, क्योंकि तब जो भी आप अनुभव करेंगे वह सिर्फ आपके विश्वासों द्वारा ही संस्कारित होगा। विश्वास अपना ही एक अनुभव गढ़ लेता है, इसलिए वह सच कतई नहीं होता। वह चुनौती के प्रति सिर्फ एक संस्कारित प्रतिक्रिया ही होता है।

तो, इन असंख्य समस्याओं को समझने के लिए जो हम सबके सामने खड़ी हैं, क्या स्वयं से परिचय होना ज़रूरी नहीं? और यही तो है सबसे मुश्किल बात, स्व-बोध, जिसका मतलब अलग-थलग होना नहीं, भगोड़ा होना नहीं। साफ है कि खुद को जानना ज़रूरी है लेकिन खुद को जानने का मतलब संबंध से भागना नहीं। और यह सोचना कि अलग-थलग हो कर, सबसे कट कर या किसी मनोविज्ञानी के पास जा कर, किसी पंडे-पुरोहित से अथवा कोई पोथी-पुस्तक पढ़ कर हम गहराई से, पूरी तरह, मुकम्मल तौर पर खुद को जान सकते हैं, तो यह सरासर भूल होगी।

अपने आप से परिचय तो असल में एक प्रवाह ही है, अपने आप में कोई मंजिल नहीं और खुद को जानने के लिए हमें अपनी गतिविधियों के दौरान यानी संबंधों के बीच स्वयं के बारे में सजग होना होगा। आप क्या हैं, इसका पता आपको अलगाव में नहीं, संसार से भाग कर नहीं, बल्कि संबंधों में, समाज के साथ संबंधों में, अपनी पत्नी, अपने पति, अपने भाई और दूसरे लोगों के साथ संबंधों में चलता है; लेकिन अपनी प्रतिक्रियाओं और अपने हाव-भावों को देखने के लिए मन में गजब की सजगता चाहिए, समझ का तीखापन चाहिए।

चूंकि हर समस्या एक पूरी प्रक्रिया का ही परिणाम है, कोई अलग-थलग या कटा-छंटा नतीजा नहीं है, अतः उसे समझने के लिए हमें अपने आप की सारी प्रक्रिया को ही समझना होगा;

और खुद को समझने के लिए—सिर्फ सतही तौर पर नहीं, ऊपरी मन की दो-चार तहों को ही नहीं, बल्कि चेतना की पूरी-की-पूरी अंतर्वस्तु से हो कर गुज़रने के लिए—अपने वजूद की सारी सामग्री को पूरी तरह, सार्थक रूप से जानने-समझने के लिए उसे संबंधों में ही समझना और अनुभव करना होगा। हम या तो संबंधों को सीमित और संकीर्ण बना सकते हैं और विशिष्टता का जामा पहना कर स्व-बोध की राह में रुकावट खड़ी कर सकते हैं, या फिर हम उस संबंध को उसकी समग्रता में देख सकते हैं, उसके प्रति सजग हो सकते हैं और उसका उपयोग खुद को जानने के लिए कर सकते हैं।

निश्चित ही, मैं जो भी हूँ वह प्रक्रिया सिर्फ संबंधों में ही खुलती है, है कि नहीं? संबंध ही वह आईना है जिसमें मैं खुद को वैसा ही देखता हूँ जैसा कि मैं हूँ; लेकिन जैसा कि हममें से ज्यादातर लोग उसे देखना पसंद नहीं करते जैसे कि हम हैं, तो जो कुछ भी संबंध के दर्पण में हमें दिखता है, हम उसे अनुशासित करना शुरू कर देते हैं, सकारात्मक रूप से या फिर नकारात्मक रूप से। अर्थात्, संबंधों में, उसमें होने वाले क्रियाकलाप में मुझे कुछ दिखाई पड़ता है, और मुझे वह पसंद नहीं। और फिर मैं उसे सुधारना शुरू कर देता हूँ जो मुझे पसंद नहीं होता, जो मुझे बुरा लगता है। मैं उसे बदलना चाहता हूँ—जिसका मतलब है कि मेरे पास पहले से कोई ऐसा ढांचा है जिसके मुताबिक मुझे होना चाहिए। जिस घड़ी मेरे सामने वह नमूना खड़ा हो जाता है कि मुझे तो ऐसा होना चाहिए तब जो मैं हूँ वह समझ आना बंद हो जाता है। जैसे ही मेरे सामने वह तस्वीर आती है जैसा कि मैं होना चाहता हूँ या जो मुझे होना चाहिए या नहीं होना चाहिए—एक मापदंड जिसके मुताबिक मैं खुद को बदलना चाहता हूँ—तो पक्की बात है कि संबंध की उस घड़ी में मैं जो भी होता हूँ उसकी कुछ समझ नहीं बन पाती।

मेरे ख्याल से इसे समझना बहुत ही अहम है, क्योंकि मुझे लगता है यही वह जगह है जहां ज़्यादातर लोग भटक जाते हैं। हम वह जानना ही नहीं चाहते जो संबंध के किसी खास पल में हम सचमुच होते हैं। अगर हम सिर्फ खुद को सुधारने के लिए ही चिंतित हैं तो अपने आप की, 'जो है' उसकी कुछ भी समझ मुमकिन नहीं है। आपकी फिक्रमंदी सिर्फ नतीजे हासिल करने की है और किसी नतीजे पर पहुंचना आखिरकार भयंकर रूप से उबा देने वाला हो जाता है, क्योंकि वह कहीं ले नहीं जाता। लेकिन उसे जानना जो मैं हूं, न कि जो मुझे होना चाहिए, एक बेहद मुश्किल काम है क्योंकि मन बहुत ही महीन चीज़ है, यह जो भी है हमेशा उससे बचने की फिराक में रहता है। अतः इसने कई कसौटियां, कई मापदंड और मान्यताएं खड़ी कर ली हैं जो 'जो है' उसी को नकारती हैं। अतः खुद को समझने के लिए, जो कोई मुर्दा नहीं बल्कि एक जीवंत सत्ता है, आपकी दृष्टि हर पल नयी होनी चाहिए, उस पर किसी भी सकारात्मक या नकारात्मक मापदंड की जकड़ नहीं चाहिए।

खुद को जानने के लिए जो कि सिर्फ संबंध में ही मुमकिन है, उससे बाहर नहीं, किसी तरह की कोई निंदा नहीं होनी चाहिए। अगर मैं किसी चीज़ की निंदा करता हूं तो मैं उसे समझता नहीं और यदि मैं उसे स्वीकार कर लेता हूं, तो भी नहीं समझ पाता। स्वीकार कर लेना किसी समस्या से तादात्म्य कर लेना भर है, तथा नकार और निंदा तादात्म्य के ही रूप हैं। लेकिन अगर हम बिना निंदा या स्वीकार के समस्या को सिर्फ देख सकें—जिसका मतलब है, मेरी खुद की समस्या जैसा कि मैं संबंध के दौरान हूं जो कि कर्म है—तब 'जो है' उसे समझ पाने की संभावना होती है, और इसलिए उसके प्रकट होने, खुलने की भी।

जबकि हमारी समस्याएं हमारे होने की उस पूरी प्रक्रिया का ही परिणाम हैं जो संबंधों के दौरान कर्म है, भले ही उसका सरोकार चीजों से हो, विचारों से या लोगों से, तो खुद की समझ क्या लाजिमी नहीं हो जाती? बिना स्वयं को जाने, मेरे पास विचार करने का कोई असल आधार नहीं होता। वैसे, मैं विचार कर सकता हूं, या कम से कम यह विचार तो कर ही सकता हूं कि मैं विचार करने में सक्षम हूं—मेरे मत हो सकते हैं, ढेरों विश्वास हो सकते हैं, मैं किसी संस्था या समाज से जुड़ सकता हूं, किसी भी चर्च से, और बेशुमार ज्ञान हो सकता है मुझमें, लेकिन हकीकत में यह सब सही सोच का आधार नहीं है। यह तो बस भरमा सकता है और ज़्यादा उलझनों तथा टकरावों की तरफ ही ले जा सकता है।

इसलिए ठीक से सोचने के लिए स्व-ज्ञान का होना ज़रूरी है जिसका मतलब है खुद को जानना जैसे भी आप हैं; हर पल, हर घड़ी जो भी हो रहा है उसके प्रति जगे रहना, हर बाहरी चुनौती के प्रति, भीतर उठने वाली हर प्रतिक्रिया, हर अनुभव के बारे में सजग रहना ज़रूरी है। लेकिन अगर वहां किसी भी तरह का कोई विश्वास है, कल के किसी अनुभव के प्रति किसी किस्म का भी कोई चिपकाव है, तो आप खुद को पूरी तरह से, पूरी गहराई और विस्तार से जान ही नहीं सकते। किसी भी चीज़ को समझने के लिए एक तरो-ताज़ा दिमाग चाहिए, न कि पक्षपातों से भरा, अनुभवों से टुसा-भरा मन, क्योंकि खुद को समझने के लिए स्वयं का खुलासा होने देना ज़रूरी है। एक बात साफ है कि यह खोज-खुलासा तो पल-पल, लम्हा-लम्हा ही हो सकता है, इसलिए इसमें एक निरंतरता का होना ज़रूरी है—सिर्फ सोच-विचार नहीं जो कि किसी विशेष ढांचे से बंधा है, संस्कारित है, भले ही वह ढांचा कितना ही आलीशान हो या मूर्खता भरा और ऊलजलूल हो।

किसी भी विशेष अनुभव के—जो कि संबंध है—समूचे अभिप्राय के प्रति सजग हो पाना इतना आसान नहीं है। इसके लिए असाधारण सतर्कता चाहिए, तीक्ष्ण मन चाहिए, लेकिन अतीत के अनुभवों से लगाव के चलते मन का पैनापन मंद पड़ जाता है। विश्वास उसे जड़ बना देता है। जैसा कि मैंने कहा किसी विश्वास के मुताबिक किया गया कोई अनुभव मन को महज़ बांधता ही है, संस्कारित ही करता है, और ऐसा अनुभव हालांकि बहुत तुष्टि-तृप्ति देने वाला होता है, लेकिन वह उस असाधारण तथा व्यापक स्व-ज्ञान को—जो संबंधों में की जा रही प्रतिक्रियाओं के बारे में सजग होने से आता है—सीमित ही करता है। क्योंकि यदि आप किसी अनुभव से गुज़रते हैं और उससे चिपके रहते हैं, जो कि याददाश्त ही है, और उस संस्कारित सोच से, उस याद के ज़रिये आप किसी नयी चुनौती से जुड़ते हैं, तो साफ है कि उस चुनौती को आप समझ नहीं पायेंगे। और संबंध तो निस्संदेह एक चुनौती है, है कि नहीं? संबंध कोई जड़ चीज़ थोड़े ही है। और क्योंकि हम उस चुनौती का ठीक से, पूरी तरह सामना नहीं कर पाते, इसीलिए समस्याएं उठ खड़ी होती हैं, और हम घिर जाते हैं उनमें।

चूंकि हम कौमपरस्त हैं, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, बौद्ध और पता नहीं क्या-क्या, और क्योंकि हम इस ग्रुप या उस संस्था से जुड़े हैं जो सभी-की-सभी सीमित करने वाली हैं, इसलिए हम उस चुनौती का सामना करने में असमर्थ रहते हैं जो लगातार उभरती रहती है; इसलिए कि किसी भी चुनौती का सामना करने के लिए संपूर्ण स्व-बोध ज़रूरी है। स्वयं की खोज के साधन के रूप में याददाश्त और पिछले अनुभवों पर भरोसा करना साफ तौर पर हमारी सोच और बोध को सीमित कर देता है। क्योंकि आखिरकार क्या है वह, जो हममें से ज्यादातर लोग चाहते हैं? हालांकि

हमारी अपनी समस्याएं हैं, रुपये-पैसे और गुजारे की ढेरों चिंताएं हैं, असुरक्षा का एक ज़बरदस्त भाव है, जंगें हैं, और कौमपरस्ती के हंगामे हैं, असंख्य पंथों का, धर्मों का अपना-अपना निरालापन, और कुछ ख़ास होने की हमारी अपनी ख़्वाहिश— इन सब बेवकूफियों के बावजूद वह क्या है जिसकी हमें सच में तलाश है? अगर हम यह जान सकें तो शायद हम समझ पायें, क्योंकि हमारी तलाश उम्र, युग और ज़िन्दगी के वक्त-हालात के मुताबिक ढलती-बदलती रहती है।

इस सारे भ्रम-जंजाल के ज़रिये क्या हमें किसी ऐसे तत्त्व की तलाश नहीं रहती जो स्थायी हो, टिकाऊ हो, कुछ ऐसा जिसे हम सच कहते हैं, हकीकत, ईश्वर या कुछ और?—नाम से कुछ फर्क नहीं पड़ता, यकीनन शब्द तो वह चीज़ नहीं है। तो शब्दों में खुद को मत उलझाएं, वह सब पेशेवर भाषणबाजों पर छोड़ दें। सचमुच ही एक खोज है, उसकी जो स्थायी है, क्या ऐसा नहीं? ज़्यादातर लोगों में ऐसा ही है—हम ढूँढते हैं कुछ ऐसा जिससे चिपक सकें, जो हमें भरोसा दिला पाए, कोई उम्मीद, उत्साह जो देर तक बना रहे, एक निश्चितता, क्योंकि अपने आप में हम बेहद अनिश्चित हैं, डावांडोल। हम खुद को नहीं जानते। तथ्यों के बारे में—जो भी किताबों में लिखा है—हमें खूब पता है, लेकिन अपने आप से हम अपरिचित हैं, हमारा कोई सीधा अनुभव ही नहीं है।

और वह क्या है जिसे हम स्थायी कहते हैं? क्या है जिसकी तलाश है हमें, जो हमें स्थिरता देगा या जिससे हम स्थिरता की आशा रखते हैं? क्या हम एक ऐसी खुशी की तलाश में नहीं जो स्थायी हो, ऐसी तृप्ति जो हमेशा बनी रहे, चिरस्थायी स्थिरता? कुछ ऐसा चाहते हैं हम जो सदा बना रहे, जो हमें संतुष्ट करे। अगर हम सभी शब्दों और शब्द-जालों को एक तरफ कर पाएं और सच में इसे देख पाएं तो यही है जो हम चाहते हैं। हम

चाहते हैं स्थायी सुख, शाश्वत तृप्ति—जिसे हम परमात्मा, सत्य, और पता नहीं क्या-क्या नाम देते हैं।

तो हम चाहते हैं सुख। बात शायद थोड़ी अटपटी लग सकती है पर हकीकत में हम यही चाहते हैं। ज्ञान जो हमें सुख दे, अनुभव जो हमें मज़ा दे, एक ऐसी तृप्ति जो कभी ख़त्म न हो। हमने तरह-तरह की तृप्तियों का स्वाद चखा है, देर-सबेर सब हवा हो जाती हैं, मंद पड़ जाती हैं, और अब हम एक स्थायी संतुष्टि ढूँढ रहे हैं यथार्थ में, ईश्वर में। दरअसल हम यही तो चाहते हैं—होशियार भी और बेवकूफ भी, सिद्धांतकार भी और वह व्यावहारिक आदमी भी जो किसी चीज़ के पीछे भाग रहा है। पर स्थायी संतुष्टि नाम की कोई चीज़ है भी ? क्या कुछ ऐसा है जो स्थायी हो ?

अब अगर आपको तलाश है किसी स्थायी तृप्ति की, उसे खुदा कहें, सच कहें या कुछ भी कहें—नामों से कुछ फर्क नहीं पड़ता—यकीनन आपको यह तो समझना ही चाहिए कि आप किसके पीछे दौड़ रहे हैं? या नहीं? जब आप कहते हैं कि मुझे तलाश है किसी स्थायी खुशी की—जिसे आप सत्य कहें या भगवान, या आप जो चाहे—तो क्या आपको उसे भी नहीं समझना चाहिए जो खोज कर रहा है, जो खोजी है, अन्वेषक है? क्योंकि हो सकता है कि स्थायी खुशी या सुरक्षा जैसी कोई चीज़ ही न हो। हो सकता है सत्य बिल्कुल ही कोई अलग बात हो, और मुझे लगता है कि यह बिल्कुल ही अलग है; जो भी आप देख-समझ सकते हैं या सिद्धांतबद्ध कर सकते हैं उस सबसे एकदम अलग।

तो किसी स्थायित्व की तलाश में पड़ने से पहले क्या उसे समझना लाज़िमी नहीं जो तलाश रहा है? क्या खोजी उस चीज़ से अलग है जिसे वह खोज रहा है? जब आप कहते हैं, “मैं

प्रसन्नता ढूँढ रहा हूँ,” तो क्या खोजने वाला खोज की वस्तु से अलग है? क्या सोचने वाला, विचारक सोच-विचार से भिन्न है? अलग-अलग प्रक्रिया होने की बजाय क्या वे जुड़े हुए नहीं हैं, एक संयुक्त प्रक्रिया? तो फिर, क्या यह ज़रूरी नहीं हो जाता कि आप पहले खोजने वाले को समझें, यह समझने की कोशिश करने से पहले कि वह क्या है जिसे वह खोज रहा है।

यही वजह है कि मुझे अपने आप को समझना इतना अहम लगता है, इतना ज़रूरी, क्योंकि अपने आप में ही तो सारी समस्या छिपी है। यह सिद्धांतबाज़ी, यह अनुमान कि तुम्हीं हो मंज़िल, तुम्हीं हो वह परम, वह परमात्मा वगैरह, यह तो सिर्फ वह लफ्फाजी है जो आपको छिपने की जगह देती है, जिसके पीछे आप पनाह लेते हैं। यह कहना कि तुम वह हो, या नहीं हो, असल हो या झूठ, इस सब का कुछ मतलब नहीं, क्योंकि आपके पास ऐसी किसी सोच का कुछ आधार ही नहीं है; आप ठीक से सोच तभी सकते हैं जब आप खुद को जान रहे हों। और खुद को जानने के लिए आपको अपनी सोच की हर हरकत के प्रति पूरी तरह से सजग होना होगा; तब, उस सजगता में, आप यह देख पाएंगे कि क्या सोचने वाला अपनी सोच से अलग है।

अगर वह अलग है तो फिर हमारे सामने कई जटिल सवाल खड़े हो जाएंगे कि कैसे विचार को काबू किया जाए, और फिर अनुशासन की वे सारी मूर्खताएं शुरू हो जाएंगी—ध्यान, सोच और सोचने वाले को करीब लाना, उनके बीच की दूरियों को पाटना। लेकिन क्या सचमुच ही कोई सोचने वाला है जो अपनी सोच से अलग है? क्या विचारक ही विचार नहीं है? वे जुदा-जुदा नहीं हैं, बल्कि एक ही संयुक्त प्रक्रिया हैं। तो हम ही सोच हैं, ऐसा नहीं है कि कोई सोचने वाला है जो विचारों को सोच रहा है; इसका प्रत्यक्ष अनुभव होना, बोध होना ज़रूरी है

कि विचारक ही विचार है, और जब ऐसा अनुभव होगा तो हम देखेंगे कि विचार के परे जाना संभव है।

क्योंकि सोच तो आखिरकार यादों की ही प्रतिक्रिया है, और ये यादें जो भी गढ़ती हैं, बुनती हैं, कल्पना करती हैं, वह वास्तविक नहीं है, असल नहीं है। परमात्मा याददाशत का, पढ़ाई-लिखाई का, इस या उस संस्था से जुड़ने या किसी तरह के जड़-सूत्रों में विश्वास का नतीजा नहीं है। ये सारी चीज़ें तो सोच का ही परिणाम हैं और सोच यादों की, अनुभवों की प्रतिक्रिया ही तो है। लेकिन यह पता लगाने के लिए कि क्या सचमुच में ही कोई हकीकत है, ईश्वर नाम की कोई चीज़ क्या सच में ही है, पहले खुद को जानना-समझना बहुत ही ज़रूरी है, परमात्मा है या नहीं है इस बारे में अनुमान लगाते रहना नहीं; ऐसे सभी अंदाज़े तो वक्त की बरबादी हैं।

अतः उन सभी समस्याओं को समझने के लिए जो हम सबके सामने खड़ी हैं, चाहे वे कितनी ही पेचीदा हों, कितनी ही सूक्ष्म हों, हमें निश्चित ही यह समझना होगा कि वे हमसे बाहर नहीं हैं, हमारी सोच से बाहर—बल्कि वे समस्याएं हमारे ही होने की प्रक्रिया या परिणाम हैं। संसार हम ही हैं, वह हमसे अलग नहीं है। संसार की समस्या मेरी समस्या है, ऐसा नहीं है कि वह कुछ ऐसा है जिससे हमें अलग से निपटना है। और इन समस्याओं को सुलझाने के लिए—सतही तौर पर नहीं, अस्थायी तौर पर नहीं, बल्कि गहराई से, जिसका असर दूर तक हो—खुद की समझ होना बेहद ज़रूरी है; और खुद को समझने के लिए संबंधों में चुनाव रहित सजगता ज़रूरी है। तभी कोई खुद को समझ सकता है, हू-ब-हू वैसा ही जैसा कि वह है, और तब वह इसमें और गहराई से जा सकता है, और पूर्णता से।

लेकिन अगर आप जो असल में हैं उसकी निंदा करके,

सुधार का अभ्यास करके, किसी से तादात्म्य करके उसे ढांपने का काम करते हैं तो फिर समझ की गुंजाइश नहीं रहती, स्व-बोध की क्रिया तब सीमित हो जाती है। खुद को पूरी तरह गहराई से, चेतन-अवचेतन दोनों ही धरातलों पर समझने पर ही, केवल तभी जब मन शांत हो—न कि शांत बनाया गया हो—उसे पाने या जानने या महसूस करने की संभावनाएं खुलती हैं जो हकीकत है, यथार्थ है।

इसीलिए ध्यान महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वह ध्यान नहीं जिसमें हममें से ज़्यादातर लोग उलझा करते हैं, जो सिर्फ ज़ोर-ज़बरदस्ती है, किसी धारणा के अनुकूल बनना है, मन को शांत करने के लिए अनुशासन साधना है, जो बिल्कुल बचकाना है क्योंकि मन को शांत किया नहीं जा सकता। वह कौन है जो मन को शांत करता है? ऐसी कोशिशें भ्रमित करने वाली होती हैं, जिनके बारे में हम फिर कभी बात करेंगे। लेकिन मन जब शांत होता है, ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं, किसी भी तरह के प्रयास से नहीं, जब उसे दबाया नहीं जाता, मजबूर नहीं किया जाता, कुछ मनवाया नहीं जाता उससे, जब अपनी गतिविधियों को देखते-समझते हुए मन सचमुच ही निश्चल होता है—सिर्फ तभी एक संभावना खुलती है उसके आगमन की, जो शाश्वत है।

फिर आपको सच खोजना नहीं पड़ता। सच को खोजना सच को नकारना है, क्योंकि सच के पीछे दौड़ा नहीं जा सकता : वही आपके पास आता है। आ वह तभी सकता है जब मन खामोश हो—खामोश किया गया नहीं, स्वतः मौन, शांत। और ऐसा मौन, ऐसी प्रशांति, स्थिरता सिर्फ खुद को जानने से आती है।

द कलेक्टेड वर्क्स ऑव जे. कृष्णमूर्ति खंड ५
लंदन, २ अक्टूबर १९४६

आप जो हैं उसे समझना सदाचार की शुरुआत है

...संसार की समस्याएं इतनी विशाल हैं, इतनी उलझावदार कि उन्हें समझने और सुलझाने के लिए हमें बहुत ही सीधे और सरल ढंग से उनके साथ पेश आना होगा; और यह सादगी, यह स्पष्टता बाहरी हालात पर निर्भर नहीं करती, न ही हमारे किन्हीं खास पूर्वाग्रहों और मनोदशाओं पर। जैसा कि मैंने कहा कि इसका हल न तो बड़ी-बड़ी सभाओं में है, न ही नयी-नयी योजनाओं में, और न ही पुराने लीडरों की जगह पर नये लोगों को ले आने जैसी कोशिशों से इसका कोई हल निकल सकता है। साफ है कि हल तो खुद उसी में है जिसने समस्या को खड़ा किया है, जो सारी शरारत, घृणा और लोगों के बीच फैली इन बेहिसाब गलतफहमियों की जड़ है। इस सारी शरारत को, इन समस्याओं को पैदा करने वाला तो व्यक्ति ही है, आप और मैं, न कि संसार, जैसा कि हम सब सोचते हैं। संसार तो दूसरों के साथ आपके संबंधों का ही नाम है। संसार कोई आपसे और मुझसे अलग नहीं है; समाज व संसार तो वे संबंध हैं जो हम एक-दूसरे से बनाते हैं या बनाना चाहते हैं।

तो समस्या हैं आप और मैं, न कि संसार, क्योंकि संसार तो हमारा ही अक्स है, और संसार को समझने के लिए हमें खुद को समझना होगा। संसार हमसे अलग नहीं है, हम ही संसार हैं, और हमारी समस्याएं ही संसार की समस्याएं हैं। इस बात को जितनी बार दोहराये उतना कम है, क्योंकि हम यह सोचा करते हैं कि संसार की समस्याओं से हमें क्या लेना-देना, उन्हें सुलझाने का काम या तो संयुक्त राष्ट्रसंघ का है, या फिर पुरानों की जगह नये नेताओं को लाने से बात बन जाएगी। यह बहुत ही जड़

K: ...‘Self-knowing’ was being spoken about, thousands of years ago, by Socrates and by others before him. Now, what is self-knowing? How do you know yourself? What is it to know oneself? Do you know yourself from the observation of experience; from the observation of a thought and from that thought the observation of another thought springing up, and we are reluctant to let go the first thought, so that there is a conflict between the first thought and the second thought? Or is self-knowing to relinquish the first thought and pursue the second thought and then the third thought that arises dropping the second, following the third; dropping the third and following the fourth; so that there is a constant alertness and awareness of the movement of thought? Now, let’s proceed. I observe myself being jealous. The instinctual response to jealousy is rationalization. In the process of rationalization I have forgotten, or put aside, jealousy. So I am caught in rationalization, in words, in the capacity to examine and then to suppress. I see the whole movement as one unit. Then arises the desire to run away from it. I examine that desire, that escape. It is an escape into what?

P: Sometimes escape into meditation.

K: Of course, that is the easier trick - into meditation. So, I say, what is meditation? Is it an escape from ‘what is’? Is that meditation? It is not meditation, if it is an escape. So, I go back and examine my jealousy: why am I jealous? because I am attached, because I think I am important and so on. This whole process is revelation. Then I come to the point: Is the examiner, the observer, different from the observed? Obviously he is not. So true observation is when there is no observer.

Explorations & Insights, Self Knowing and Krishnamurti's Teaching, Bombay 14th January, 1977

कृष्णमूर्ति : ...‘स्वयं को जानना’—इस पर सुकरात और उससे भी पहले अनेक विचारकों द्वारा काफी कुछ कहा गया है। तो स्वयं को जानना क्या होता है? आप स्वयं को कैसे जानेंगे? यह स्वयं को जानना आखिर होता क्या है? क्या आप अनुभव को देख-देख कर स्वयं को जानते हैं; किसी एक विचार को देख कर और फिर उस विचार से दूसरे विचार को पैदा होते देख कर स्वयं को जानते हैं, किंतु हम पहले वाले विचार को आसानी से जाने देना नहीं चाहते, और इसीलिए पहले और दूसरे विचार के बीच झंझड़ रहता है? या, स्वयं को जानना पहले विचार को छोड़ देना और दूसरे के पीछे दौड़ पड़ना है और फिर दूसरे को छोड़ देने से उपजे तीसरे विचार के पीछे लग जाना है, और तीसरे को भी छोड़ कर चौथे के पीछे लग जाना है ताकि विचार के प्रवाह की सचेतता और सजगता निरंतर बनी रहे? आइए, इसमें थोड़ा आगे बढ़ते हैं। मैं स्वयं को ईर्ष्यालु होते देखता हूँ। ईर्ष्या की सहज प्रतिक्रिया होती है स्वयं को सही ठहराना। इस सही ठहराने के चक्कर में मैं ईर्ष्या को भुला देता हूँ या एक तरफ रख देता हूँ। इस तरह मैं सही ठहराने में, शब्द-जाल में, परखने की क्षमता में और फिर उसे दबाने में ही उलझा रह जाता हूँ। इस पूरे प्रवाह को मैं एक ही मामले की तरह देखता हूँ। फिर, इससे पलायन कर जाने की इच्छा पैदा हो जाती है। मैं उस इच्छा, उस पलायन को भी परखता हूँ। यह पलायन है कहां के लिए?

पुपुल : कभी-कभी यह पलायन ध्यान की ओर जाता है।

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल, वह सबसे अच्छी तरकीब है—ध्यान में जाना। तो, मेरा प्रश्न है, ध्यान क्या है? क्या यह ‘जो है’ से पलायन है? क्या यही ध्यान है? यह ध्यान नहीं है बल्कि पलायन है। अब मैं वापस जाता हूँ और अपनी ईर्ष्या का अध्ययन करता हूँ : मैं ईर्ष्यालु क्यों हूँ? क्योंकि मुझमें आसक्ति है, क्योंकि मैं महत्त्वपूर्ण हूँ, इत्यादि। यह पूरी प्रक्रिया सच्चाई उजागर करती है। अब मैं मुद्दे पर आता हूँ : जांचकर्ता या अवलोकनकर्ता क्या उस चीज़ से अलग है जिसका अवलोकन किया जा रहा है? निश्चय ही ऐसा नहीं है। अर्थात्, वास्तविक अवलोकन वहां होता है जहां अवलोकनकर्ता नहीं होता।

मानसिकता है जो ऐसा सोचती है, क्योंकि संसार की इन सारी उलझनों के लिए, इस डरावने दुख-दर्द के लिए, सिर पर मंडराती जंग के लिए, हम ही ज़िम्मेदार हैं।

इस संसार को बदलने के लिए, शुरुआत तो खुद ही से करनी होगी। तो जैसा कि मैंने कहा खुद से शुरुआत करने में जो अहम बात है वह है इरादा। इरादा खुद को समझने का होना चाहिए, यह नहीं कि मसला दूसरों पर छोड़ दो कि वही अपने को बदलें या इन्कलाब करके थोड़ा-बहुत बदलाव ले जाएं, चाहे तरीका दक्षिणपंथी हो या वामपंथी। तो इस बात को समझना महत्त्वपूर्ण है कि यह हमारी जवाबदेही है, हमारी-आपकी, क्योंकि हमारे संसार का दायरा चाहे जितना छोटा क्यों न हो, लेकिन अगर हम खुद को बदल पाएं, अपने रोज़मर्रा के जीवन में एक बिल्कुल नया नज़रिया ला पाएं, तो शायद हम बड़े पैमाने पर संसार को प्रभावित कर पाएंगे, जो दूसरों के साथ हमारे संबंधों का ही विस्तार है।

तो, खुद को समझने की प्रक्रिया क्या हो, उसे कैसे खोजें, हम इसी पर चर्चा करने जा रहे हैं; यह कोई अलग-थलग प्रक्रिया नहीं है। यह संसार से अलग हटना नहीं है क्योंकि अलगाव में तो आप जी ही नहीं सकते। होने का मतलब ही जुड़ना है, अलग-थलग हो कर जीने जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। सही संबंधों के अभाव में ही तो टकराव खड़े होते हैं, कलह-क्लेश और दुख आते हैं; हमारी दुनिया भले ही कितनी छोटी क्यों न हो, अगर हम अपने उस छोटे से संसार में, अपने संबंधों में बदलाव ला पाएं तो यह एक उठती हुई लहर की तरह होगा जो फैलती चली जाती है। मेरे ख्याल से इस बिंदु को समझ लेना बेहद अहम है कि संसार हमारे संबंध का नाम है, भले ही यह कितना छोटा क्यों न हो, अगर हम वहां एक बदलाव ला पाते हैं,

सतही नहीं बल्कि एक गहन परिवर्तन, तब हम सचमुच ही संसार को बदलना शुरू कर देंगे।

असल इन्कलाब किसी भी ढांचे में नहीं ढलता, न दक्षिणपंथी न वामपंथी, यह तो बस मूल्यों की क्रांति होती है, सनसनियों पर आधारित मूल्यों से ऐसे मूल्यों की ओर अग्रसर क्रांति जो सनसनियों या बाहरी माहौल के प्रभावों पर नहीं टिकी। ऐसे वास्तविक मूल्यों तक पहुंचने के लिए—जो कि एक आमूलचूल इन्कलाब ले कर आते हैं, एक परिवर्तन, एक नवजीवन—पहले खुद को समझना ज़रूरी है। स्व-ज्ञान प्रज्ञा की शुरुआत है, और इसलिए परिवर्तन तथा नवजीवन की भी। अपने आप को समझने के लिए, पहले तो समझने की मंशा चाहिए—और यहीं से हमारी मुश्किलें शुरू हो जाती हैं।

हममें से ज़्यादातर लोग परेशान हैं, नाखुश हैं, हम फटाफट एक तब्दीली लाना चाहते हैं, लेकिन क्योंकि हमारी बेचैनी सिर्फ किसी नतीजे को हासिल करने तक ही सीमित है, असंतुष्ट हो कर हम या तो किसी दूसरी नौकरी की तलाश करने लगते हैं या फिर माहौल के आगे घुटने टेक देते हैं। इसलिए वह बेचैनी हममें आग भरने की बजाय, जीवन को ले कर सवाल खड़े करने की बजाय, जीवन के सारे प्रवाह को एक दिशा में मोड़ देती है और इस तरह हम एक औसत आदमी हो कर रह जाते हैं, सब जोश खो जाता है, जीवन की सार्थकता को समझने की वह सारी शिद्दत हवा हो जाती है। इन सारी बातों को खुद अपने आप से खोजना ही सबसे अहम बात है क्योंकि स्व-बोध तो दूसरों के द्वारा दिया नहीं जा सकता, न ही इसे किसी किताब में ढूंढा जा सकता है। इसे हमें ही खोजना होगा, और खोजने के लिए वैसी मंशा का होना ज़रूरी है, तलाश और जांच-परख ज़रूरी है। जब तक पता लगा लेने का, गहराई में उतर कर खोजने का इरादा ही नदारद है या कमज़ोर सा है, सिर्फ दावे या खुद को जानने

की रस्मी-सी इच्छा का कुछ खास महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार, संसार में बदलाव अपने आप को बदल कर ही लाया जा सकता है, क्योंकि यह 'स्व' मानवीय जीवन की सारी प्रक्रिया का ही फल है, उसी का हिस्सा है। खुद को बदलने के लिए, स्वयं से परिचय ज़रूरी है, क्योंकि यह जाने बिना कि आप क्या हैं, सही सोच-विचार का कोई आधार ही नहीं हो सकता, और बिना खुद को जाने कोई बदलाव हो नहीं सकता। हमें खुद को वैसे ही जानना होगा जैसे कि हम हैं, न कि वैसे जैसा कि हम होना चाहते हैं जो केवल एक आदर्श भर होगा और इसलिए जाली होगा, झूठा, नकली; और बदला तो सिर्फ उसी को जा सकता है जो है, न कि उसे जो होने की आपकी बस इच्छा है। इसलिए खुद को जस-का-तस जानने के लिए मन की असाधारण सजगता की ज़रूरत है, क्योंकि जो है वह निरंतर बदल रहा है, प्रवहमान है, और तेज़ी से उसके साथ चलने के लिए मन किन्हीं जड़सूत्रों में या विश्वासों में उलझा हुआ नहीं होना चाहिए, काम-काज के किसी बंधे-बंधाए ढर्रे में फंसा हुआ नहीं होना चाहिए। अगर आप कुछ समझना चाह रहे हों, तो किसी खूंटे से बंधा होना अच्छी बात नहीं है।

अतः खुद को जानने के लिए सजगता ज़रूरी है, मन की ऐसी चौकसी जहां सभी विश्वासों से, आदर्शों की सारी दौड़ से आज़ादी हो, क्योंकि ये आदर्श, ये विश्वास आंखों पर पड़ी पड़ी हैं जो असल बोध को धुंधला ही करते हैं। अगर आप जानना चाहते हैं कि आप कौन हैं तो आप किसी ऐसे तत्त्व की कल्पना नहीं कर सकते, विश्वास नहीं पाल सकते जो आप नहीं हैं। अगर मैं लालची हूं, ईर्ष्यालु, हिंसक हूं तो अहिंसा या फिर अलोभ के आदर्श मात्र का कुछ खास मतलब नहीं है। पर यह जानना कि मैं लोभी और हिंसक हूं, इसे जानना और समझना,

इसके लिए असाधारण बोध चाहिए, है न? यह एक स्पष्ट चिंतन की मांग करता है, ईमानदारी की। जबकि, किसी आदर्श के पीछे दौड़ना 'जो है' उससे भागना है; यह आपको रोकता है उसे खोजने और उस पर सीधे-सीधे काम करने से जो भी आप हैं।

इसलिए आप जो हैं उसे समझना, जो कुछ भी हैं, बदसूरत या खूबसूरत, दुष्ट या शरारती, जो है उसकी समझ ही, बिना किसी तोड़-मोड़ के, सदाचार की शुरुआत है। सदाचार बुनियादी चीज़ है, क्योंकि यही आज़ादी देता है। केवल सदाचार में ही आप खोज सकते हैं, जी सकते हैं—सदाचार को विकसित करने में नहीं, जो सिर्फ आदर-सम्मान तो ला सकता है, पर समझ और आज़ादी नहीं। सदाचारी होने और सदाचारी बनने में बड़ा फर्क है। सदाचार आता है 'जो है' उसकी समझ से, जबकि सदाचारी बनना तो बस टालते जाना है, 'जो है' उसे 'जो आप होना चाहते हैं' के नीचे ढंकते जाना है। यों सदाचारी बनने के चक्कर में आप, 'जो है' उस पर सीधे कर्म करने से बचते हैं।

आदर्शों को मज़बूत करने के ज़रिये 'जो है' उससे बचने को ही सदाचार समझा जाता है, लेकिन अगर आप ठीक से, एकदम सीधे देखेंगे तो साफ नज़र आएगा कि ऐसा कुछ नहीं है। यह तो बस 'जो है' उसके रू-ब-रू होने से बचना है। सदाचार वह बनना नहीं है जो आप नहीं हैं; 'जो है' को समझना और समझकर उससे मुक्त हो जाना ही सदाचार है। सदाचार उस समाज के लिए एकदम ज़रूरी है जो तेज़ी से बिखर रहा है।

एक नयी दुनिया बनाने के लिए, पुराने से हट कर एक नवीन संरचना खड़ी करने के लिए, खोजने की आज़ादी तो चाहिए ही; और आज़ादी के लिए सदाचार ज़रूरी है, क्योंकि उसके बिना तो कोई आज़ादी संभव ही नहीं। क्या एक अनैतिक आदमी जो सदाचारी होने की कोशिश कर रहा है, कभी जान

पाएगा कि सदाचार है क्या? जो शख्स नैतिक नहीं है वह कभी मुक्त नहीं हो सकता और इसलिए कभी सत्य को पा नहीं सकता। सत्य, यथार्थ तो 'जो है' बस उसे समझते हुए ही पाया जा सकता है, और जो है उसे समझने के लिए आज्ञादी चाहिए, जो है, उसके भय से आज्ञादी।

तो क्या सदाचार कोई समय का मामला है? जो है उसका बोध जो कि सदाचार है, क्योंकि वह मुक्त करता है, तत्क्षण आज्ञादी देता है—क्या इसके लिए समय चाहिए? समय पा कर आप क्या उदार, दयालु या प्यार करने वाले हो सकते हैं? मतलब कि कल के बाद परसों क्या आप दयालु हो जाएंगे? क्या दयालुता को, रहमदिली को समय के दायरे में रख कर समझा जा सकता है? क्योंकि आखिरकार स्नेह, दया, उदारता जीवन की ज़रूरतें हैं, वे ही तो हमारी सब समस्याओं का समाधान हैं।

सद्भाव ज़रूरी है, और हममें तो वह है ही नहीं, या है? न सियासतदानों में, न लीडरों में और न ही उनके पीछे चलने वालों में ही सच्चा सद्भाव है, जो कि कोई आदर्श नहीं है; और इस सद्भाव के बिना, जीवन की उस असाधारण कोमलता के बिना जिसमें स्नेह आकार लेता है, सिर्फ बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंस करके तो हमारी समस्याएं सुलझाई नहीं जा सकतीं।

तो सियासतदानों की तरह ही, हममें, दुनिया भर के ज़्यादातर लोगों में सहृदयता नहीं है, हमारे भीतर वह सद्भाव नहीं है जो कि एकमात्र हल है। अब जबकि यह आपमें मौजूद नहीं है, तो क्या यह सिर्फ वक्त का सवाल है? क्या कल या दस साल बाद यह सद्भाव आपमें आ जाएगा? भविष्य में सोचना क्या एक गलत तर्कजाल नहीं है? अगर अभी आपमें रहमदिली नहीं है, सहृदयता नहीं है तो कभी नहीं होगी। आप सोच सकते हैं कि धीरे-धीरे अभ्यास करके, या अनुशासन वगैरह से आप कल या

दस साल बाद सहृदय हो जाएंगे, लेकिन तब तक तो आप निर्दय ही बने रहेंगे। जबकि सहृदयता, सद्भावना, स्नेह, ये जीवन की जलती हुई—फौरी समस्याओं का एकमात्र हल हैं, यही एक दवा है जो राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता के ज़हर से हमें उबार सकती है, यही एक सीमेंट है जो हमें जोड़ सकता है।

अब अगर सहृदयता या करुणा समय पर निर्भर नहीं, तो आप और मैं क्यों अभी के अभी सहृदय नहीं हो जाते? अगर हम समझ पाएं, तत्क्षण समझ जाएं कि क्यों हम सहृदय नहीं हैं, तो हम उसी वक्त सहृदय हो जाएंगे, हम भूल जाएंगे कि हमारी जात क्या है, अपने सांप्रदायिक, मज़हबी और देश-कौम के झगड़ों को भूल तत्क्षण हम उदार हो जाएंगे, स्नेहशील हो जाएंगे। इसलिए हमें यह समझना होगा कि क्यों हम सहृदय नहीं हैं—यह नहीं कि हम अच्छाई का अभ्यास करने लगे, उदारता पर ध्यान लगाएं—यह सब तो बेतुका है, अर्थहीन। लेकिन अगर मैं देख लूं कि मैं निर्दय क्यों हूं और मुझमें सदय होने की चाह हो, तो मेरा ऐसा इरादा, ऐसा आशय ही मुझे सौम्य बना देगा।

इसलिए इरादे का ज़बरदस्त महत्त्व है, लेकिन यदि हम निर्दयता के कारण को नहीं जानते तो इरादा फिजूल है। इसके लिए हमें अपनी सोच की सारी प्रक्रिया को समझना होगा, जीवन के प्रति अपने नज़रिये को समझना होगा। तो अपने आप का अध्ययन ज़बरदस्त महत्त्व की बात हो जाती है; लेकिन स्व-ज्ञान कोई मंज़िल नहीं है। हमें खुद का अध्ययन करते जाना होगा, बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे जिसे हमें हासिल करना है; क्योंकि अगर हमें कुछ चाहिए, कोई परिणाम चाहिए, तो हम खोज का, आज़ादी का, जांच-परख का गला ही घोट देते हैं।

स्व-ज्ञान, स्व-बोध अपने 'स्व' की, मन की प्रक्रिया की समझ है, यह मनोवेगों की तमाम जटिलताओं, उनकी दौड़ों के

प्रति जागरूक रहना है; और ज्यों-ज्यों कोई अपनी गहराई में उतरता चला जाता है, अधिकाधिक व्यापकता में, गहनता में खुद को जानता जाता है, एक स्वतंत्रता उदित होती है, भय के उलझावों से निजात मिलती है, भय जो विश्वासों को पैदा करता है, रूढ़ियों का, राष्ट्रवाद का, जातिवाद का और मन की उन सारी खौफनाक ईजादों का जन्मदाता है जिनके सहारे मन भय के अलगाव में रहा चला आता है। लेकिन जब स्वतंत्रता आती है तो उसका पता चलता है जो शाश्वत है, सनातन है। उस मुक्ति के बिना, महज़ उस सनातन के बारे में पूछते रहना, किताबें पढ़ते रहना, इस सब का कोई अर्थ नहीं है। यह सब तो बच्चों का खेल-तमाशा है। उसे नित्य कहें, सत्य कहें, या ईश्वर, जो जी में आए, उसे आपके द्वारा ही खोजा-पाया जा सकता है। यह तभी सामने आता है जब मन मुक्त होता है, विश्वासों और पूर्वाग्रहों की जकड़ से मुक्त बेरोक बहता है, आवेग के जालों, वैरभाव तथा दुनियावीपन में नहीं फंसता। लेकिन जो मन राष्ट्रवाद में, विश्वासों और रस्मों में उलझा है वह अपनी ही ख्वाहिशों में जकड़ा हुआ है, अपनी ही महत्त्वाकांक्षाओं और दौड़ों में, और स्पष्ट है कि ऐसा मन शायद समझ नहीं पाता। वह ग्रहण करने को तैयार नहीं है।

केवल सत्य को खोज लेना ही खुशी लेकर आता है और उस खोज के लिए खुद को समझना ज़रूरी है। खुद को समझने के लिए इरादा चाहिए, उसी इरादे से एक छानबीन करने वाला मन उभरता है; ऐसा मन पूरी तरह सजग है, चौकस है, बिना किसी निंदा-आलोचना या बचाव के, बिना कोई पहचान जोड़े; और ऐसी सजगता तत्क्षण समस्या से मुक्त करती है। इसलिए हमारी सारी खोज समस्या के समाधान की नहीं, बल्कि खुद समस्या को समझने की है। और समस्या आपसे बाहर नहीं है : समस्या आप ही हैं।

समस्या को समझने के लिए, जिसने उसे खड़ा किया है उसे समझने के लिए जो कि आप ही हैं, आपको सहजता से अपने रोज़ाना के जीवन में आप जैसे भी हैं ठीक वैसा ही खुद को जानना होगा; क्योंकि जिस पल आपके भीतर प्रतिक्रियाएं उभरती हैं सिर्फ़ तभी उन्हें समझा जा सकता है। लेकिन अगर आप अपनी प्रतिक्रियाओं को किसी खास ढर्रे के मुताबिक अनुशासित करते हैं, वह भले ही वामपंथी हो या दक्षिणपंथी, अगर आप आचरण के किसी विशिष्ट नियम का पालन करते हैं, तो आपको अपनी प्रतिक्रियाओं का पता नहीं चलेगा। **प्रयोग करें इसके साथ, और आप देखेंगे कि हर प्रतिक्रिया के तई सजग होना, जैसे ही वह उठती है, बिना उसे जायज़ ठहराए, बिना उसकी निंदा किए उसे देखना, उस प्रतिक्रिया के सारे निहितार्थ में पैठना उससे मुक्ति लाता है। स्वतंत्रता उस प्रतिक्रिया से मुक्ति में है, उसे अनुशासित करने में नहीं।**

जीवन के उद्देश्य को ले कर हमारी सारी खोजबीन, हमारे ये सवाल कि यथार्थ है या नहीं है, इस सब का कुछ खास मतलब नहीं रह जाता यदि हमें मन की—जो कि आप ही हैं—समझ ही न हो। समस्या जो कि इतनी विशाल है, इतनी पेचीदा, जिसे टाला जा नहीं सकता, आपके अंदर ही है, और खुद आपके सिवा कोई दूसरा इसे हल नहीं कर सकता, कोई गुरु इसका समाधान नहीं दे सकता, कोई टीचर, कोई मसीहा, कोई संगठित दबाव इसे हल नहीं कर सकता। बाहरी संगठन तो कभी भी उखाड़ कर फेंके जा सकते हैं, क्योंकि मनुष्य की आंतरिकता, उसका अंतःसू, उसके अस्तित्व की बाहरी संरचना से कहीं ज़्यादा ताकतवर है। भीतर को समझे बिना खाली बाहरी तरतीब को बदलने के कुछ मायने नहीं। बाहरी चीज़ों के ऐसे पुनर्संगठन के

लिए जो टिकाऊ हो, हममें से हर किसी को शुरुआत खुद अपने आप से ही करनी होगी और जब वह भीतरी रूपांतरण घटित होता है तो बाहर के संसार को प्रज्ञा के साथ, करुणा के साथ और सावधानीपूर्वक बदला जा सकता है।

द कलेक्टेड वर्क्स ऑव जे. कृष्णमूर्ति खंड ५
बैंगलोर, २५ जुलाई १९४८

अहं की समाप्ति ही ध्यान है

प्रत्येक दिन, प्रत्येक नयी-ताजी सुबह की सुंदरता के प्रति, इस संसार की अद्भुतता के प्रति जागरूक रहें। यह एक शानदार, अद्भुत संसार है, और हम इसे एक-दूसरे के साथ अपने संबंधों में, एवं प्रकृति व इस धरती के सभी जीव-जंतुओं के साथ अपने संबंधों में, नष्ट कर रहे हैं।

आइए, हम देखें कि वह मन कैसा होता है, जो मौन है, शांत है। केवल गहन मौन व शांति से ही आप ध्यानपूर्वक देखते हैं, सीखते हैं, न कि तब जब मन बहुत शोर कर रहा हो। इन पहाड़ों और खूबसूरत पेड़ों को ध्यानपूर्वक देखने के लिए, अपने परिवारजनों व मित्रों को देखने के लिए, आपका खुला, रिक्त होना, शांत होना ज़रूरी है। लेकिन यदि आपका मन बड़बड़ किये जा रहा है या आप गपशप में लगे हुए हैं, तो आप रिक्त या शांत नहीं होते। और हमें केवल भौतिक तौर पर ही नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक मानसिक तौर पर रिक्तता या खुलेपन की आवश्यकता है। और जब हम अपने बारे में सोच रहे होते हैं, तब भी यह रिक्तता, खुलापन नहीं रहता। यह बात तो सीधी-साफ ही है। क्योंकि जब मानसिक तौर पर यह रिक्तता होती है, तो अत्यंत जीवंत ऊर्जा होती है। लेकिन जब यह खुलापन केवल अपने ही छोटे-से अहं, 'मैं' तक सीमित हो, तब यह व्यापक ऊर्जा पूरी तरह से अपनी ही सीमाओं में बंधी रह जाती है। इसी कारण से, अहं की समाप्ति ही ध्यान है।

कोई यह सब अंतहीन तौर पर सुनता रह सकता है, लेकिन यदि आप ऐसा करते नहीं हैं, तो आपके सुनते रहने का क्या अर्थ है? यदि आप वास्तव में अपने प्रति, अपने शब्दों, अपनी भाव-भंगिमाओं, अपनी चाल, कैसे आप खाना खाते हैं, क्यों

आप शराब या सिगरेट पीते हैं, और उन सभी चीज़ों के प्रति जो मनुष्य कर रहा है—यदि आप इन सभी स्थूल, भौतिक चीज़ों के प्रति जागरूक नहीं हैं तो आप उसके प्रति कैसे जागरूक हो सकते हैं, जो गहरे, सूक्ष्म तौर पर हो रहा है?

यदि कोई व्यक्ति जागरूक नहीं है, तो वह छिछला, औसत, 'मीडियोकर' बनकर रह जाता है। 'मीडियोकर' शब्द का मूल अर्थ है—'पर्वत की ऊंचाई आधी चढ़ना', कभी इसके शिखर तक नहीं पहुंचना। यह औसतपन है, मीडियोक्रिटी है कि कभी अपनी सर्वोत्तमता, चरमोत्कर्ष की मांग का न उठना, कभी अपनी संपूर्ण अच्छाई या संपूर्ण स्वतंत्रता की अभिलाषा न होना—वह स्वतंत्रता नहीं कि हम जो चाहे वह करें, वह स्वतंत्रता नहीं है, वह महत्त्वहीन है—बल्कि चिंताओं, अकेलेपन, निराशा और ऐसी तमाम दूसरी चीज़ों की पीड़ाओं, दुखों से मुक्ति ही स्वतंत्रता है।

तो यह खोज पाने के लिए, या उस तक आ-पहुंचने के लिए, उसके अस्तित्व में आने के लिए, अत्यंत खुलेपन और मौन का होना ज़रूरी है—कोई व्यवस्थित, अनुशासित मौन नहीं, ऐसा कहते हुए नहीं कि मुझे अवश्य ही मौन रहना है। मौन एक असाधारण, अद्भुत स्थिति है, यह दो आवाज़ों की बीच की चुप्पी नहीं है। दो युद्धों के बीच का अंतराल शांति नहीं है। मौन कुछ ऐसा है जो स्वयं ही आता है जब आप देख रहे होते हैं, जब आप बिना किसी प्रयोजन के, बिना किसी प्रकार की मांग के, बस देखते हैं, केवल देखना, जैसे आकाश में एक अकेले तारे की सुंदरता, या मैदान में खड़े अकेले पेड़ को देखना, या अपनी पत्नी को या अपने पति को, या और कुछ भी जो आप देखते हैं—गहन मौन और रिक्तता से देखना; तब ऐसे देखने में, ऐसी जागरूकता में, कुछ ऐसा रहता है जो सभी शब्दों से, सभी माप-तौल से परे है।

हम असीम के माप-तौल के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं। तो व्यक्ति को शब्दों के जाल-जंजाल के प्रति भी सावधान रहना चाहिए, कि कैसे शब्द हमें धोखा देते हैं, कैसे शब्द इतने महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं : 'साम्यवाद' शब्द, एक पूंजीवादी के लिए दुखदायी हो जाता है। शब्द असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। लेकिन इन शब्दों के प्रति जागरूक रहना है, और यह जानते हुए कि 'मौन' शब्द मौन नहीं है, मौन के साथ रहना है, और इसकी महत्ता, इसके आशय, इसकी सुंदरता के साथ रहना है। तब व्यक्ति यह महसूस करना शुरू करता है कि जब विचार मौन है, जब जागरूकता है, तब यहां ऐसा कुछ रहता है जो सभी कल्पनाओं, संदेहों तथा कामनाओं से परे है। और ऐसे तत्त्व का अस्तित्व है—कम से कम वक्ता के लिए तो है ही। लेकिन वक्ता जो कह रहा है, वह दूसरे भी मान लें, ऐसा नहीं है।

यदि आप सुनते हैं, देखते हैं, सीखते हैं, जीवन की सभी चिंताओं से पूरी तरह मुक्त होते हैं, केवल तभी एक ऐसा धर्म अस्तित्व में आता है, जो एक नयी, पूर्णतः अलग संस्कृति को जन्म देता है। हम बिल्कुल भी सुसंस्कृत लोग नहीं हैं। आप एक बहुत चालाक व्यापारी हो सकते हैं, आप तकनीकी क्षेत्र में भी असाधारण रूप से सक्षम हो सकते हैं, या एक डॉक्टर या प्रोफेसर हो सकते हैं; लेकिन होते हम फिर भी बहुत सीमित ही हैं।

अहं, 'मैं' के अंत का अर्थ है—'न-थिंग'। शब्द 'न-थिंग' का अर्थ है 'कुछ नहीं'—विचार द्वारा बनायी, रची कोई वस्तु नहीं; कुछ न होना, मन में अपनी किसी प्रकार की कोई छवि न होना। लेकिन हममें अपने बारे में बहुत-सी छवियां, धारणाएं हैं। किसी प्रकार की कोई छवि, कोई भ्रम न रखना, पूरी तरह से नाचीज़ हो रहना—एक पेड़ अपने लिए कुछ नहीं है, यह केवल

है; और केवल अपने होने में ही यह सर्वाधिक सुंदर है, उन पहाड़ियों की तरह, जो केवल हैं। वे कुछ बनने का प्रयास नहीं करतीं, क्योंकि वे ऐसा कर ही नहीं सकतीं। ठीक इसी प्रकार एक सेब के पेड़ का बीज सेब ही रहता है, वह नाशपाती या कोई और फल बनने का प्रयत्न नहीं करता—वह बस है। क्या आप समझे? यह, केवल होना ही ध्यान है। यही खोज की समाप्ति है, और सत्य है।

ऑन नेचर एंड एन्वायरन्मेंट
ओहाय, २४ मई १९८४

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् १९६८ के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहाय, कैलीफोर्निया का है। सन् १९६८ के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

खण्ड दो

1. **Beauty of the Mountain** पुस्तक का हिंदी अनुवाद अब आपके समक्ष उपलब्ध है। जे. कृष्णमूर्ति के साथ जिये हुए पत्नों को बयां करती यह पुस्तक एक नायाब संस्मरण है। श्री ग्रोहे द्वारा लिखित यह संस्मरण आपको उस विश्व शिक्षक के ज़िंदगी जीने के अंदाज़ से रू-ब-रू कराती है।
मूल्य रू. १००/-
2. **Education & Significance of Life** पुस्तक का उर्दू अनुवाद हमारी भारतीय भाषाओं की वेबसाइट www.jkrishnamurtionline.org पर पाठकों के समक्ष उपलब्ध है।
3. **Freedom From the Known** पुस्तक का अप्रकाशित नेपाली अनुवाद हमारी भारतीय भाषाओं की वेबसाइट पर पाठकों के लिये उपलब्ध है। यदि कोई पाठक अनुवाद के संशोधन में सहयोग देना चाहे तो कृपया हमें ईमेल करे : tpcrajghat@gmail.com

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

कृष्णमूर्ति की परिचयात्मक पुस्तकें :

१. ज्ञात से मुक्ति	रु. ३०.००
२. ध्यान	रु. ४०.००
३. हिंसा से परे	रु. ८०.००
४. गरुड़ की उड़ान	रु. ७०.००
५. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (सजिल्द द्विभाषी संस्करण)	रु. ५००.००
६. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (पेपरबैक)	रु. १७५.००
७. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु. १००.००
८. अन्तिम वार्ताएँ	रु. ७०.००
९. आपको अपने जीवन में क्या करना है	रु. १७५.००

शिक्षा संबंधी पुस्तकें :

१. शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु. ६०.००
२. शिक्षा संवाद	रु. ८०.००
३. स्कूलों के नाम पत्र	रु. ६०.००
४. स्कूलों को पत्र भाग-२	रु. ४०.००
५. शिक्षा क्या है?	रु. १७५.००
६. संस्कृति का प्रश्न	रु. ५०.००

कृष्णमूर्ति का स्वयं का लेखन :

१. जीवन भाष्य-I	रु. ७०.००
२. जीवन भाष्य-II	रु. १२०.००
३. जीवन भाष्य-III	रु. १४०.००

थीम बुक्स :

१. जीवन और मृत्यु	रु. १२५.००
२. ईश्वर क्या है?	रु. १२५.००
३. ध्यान	रु. १२५.००
४. सोच क्या है?	रु. १२५.००
५. ये रिश्ते क्या हैं?	रु. १४५.००

पुस्तिकाएँ :

५. मृत्यु और उसके बाद	रु. ४०.००
६. वाशिंगटन वार्ताएँ	रु. २५.००
७. सुखी वही जो कुछ नहीं है	रु. २०.००
८. सीखने की कला	रु. १५.००
९. आन्तरिक प्रस्फुटन	रु. १०.००
१०. जीवन की पुस्तक	रु. १०.००
११. प्रेम : स्वयं से एक संलाप	रु. १०.००
१२. सत्य एक पथहीन भूमि है	रु. १०.००
१३. स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु. १०.००
१४. ध्यान में मन	रु. १०.००

हिन्दी डी.वी.डी.

“बुनियादी बदलाव : एक चुनौती”	रु. २००.००
------------------------------	------------

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१

ईमेल: kcentrevns@gmail.com फोन: ०५४२-२४४१२८९, २४४०४५३

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-१/२०८ के-१, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी २२१ ००२ से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी २२१ ००१ (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा